भूमण्डलीकरण : राष्ट्रीय विकास या राष्ट्रीय सुरक्षा के समक्ष चुनौती

■ *डॉ0 अशोक कुमार गुप्त*
असिस्टेंट प्रोफेसर, रक्षा एवं स्त्रातजिक अध्ययन विभाग,
किसान पी0जी0 कालेज रक्सा, रतसड़, बलिया।
■ *कु0 शोभा वर्मा*

किसी भी राष्ट्र–राज्य के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्र हित की सूची में सबसे ऊपर रहती है। आम आदमी के लिए तो राष्ट्रीय सुरक्षा ही राष्ट्र हित का पर्याय है, जिसका अर्थ वह देश की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा के द्वारा एकता और अखण्डता को निरापद रखना समझता है। राष्ट्रीय सुरक्षा की पारम्परिक परिभाषा इसे सैनिक और सामरिक आयाम तक ही सीमित रखती थी। इस सोच को पुष्ट करने का कारण यह रहा है कि एकता, अखंडता और भौगोलिक सीमाओं को आक्रमणकारी उल्लंघन से मुक्त रखने में असमर्थ कोई भी राज्य अपने को संप्रभु नहीं मान सकता। यदि वह अपने अधिकार क्षेत्र में–मानचित्र पर परदर्शित उस भू–भाग पर जिसे राष्ट्र–राज्य के रूप में पहचाना जाता है–अपनी सत्ता को एकछत्र नहीं रख सकता तो उसे पराधीन ही समझा जाता है।[1] 'कोई राष्ट्र उस सीमा तक ही सुरक्षित है जब तक उसे, यदि वह युद्ध से बचना चाहता है तो, अपने आधार मूल्यों को खोने के लिये विवश होने का खतरा नहीं है, और यदि उसे चुनौती दी जाये तो वह युद्ध में विजय द्वारा उसको कायम रखने में समर्थ हो।''[2]

उक्त परिभाषा से मिलते–जुलते तथ्य रखते हुये बर्कोविट्स और बुक ने राष्ट्रीय सुरक्षा को परिभाषित किया है कि ''वह वाह्य खतरों से अपने आंतरिक मूल्यों को सुरक्षित रखने की राष्ट्र की योग्यता होती है।''[3] प्रत्यक्षतः उपरोक्त तीनों परिभाषायें मुख्य रूप से राष्ट्र के आंतरिक तत्वों की बाह्य खतरों से सुरक्षा की ओर इंगित करती है, और इस प्रकार ये राष्ट्रीय हित के विभिन्न तत्वों को एक सीमित क्षेत्र में बाँध देती है। इन परिभाषाओं से कुछ आगे बढ़कर वोल्फर ने कहा है कि ''वस्तुनिष्ठ अर्थ में सुरक्षा मूल्यों की प्राप्ति के लिये बाह्य खतरों की अनुपस्थिति का परिणाम है और एक आत्मनिष्ठ अर्थ में उस भय से मुक्ति है कि ऐसे मूल्यों पर आक्रमण होगा।''[4]

परन्तु वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में यह परिभाषा भी अपूर्ण प्रतीत होती है। शीतयुद्ध में एवं शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर जो परिवर्तन हुए है, उसमें राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा में छुपे हुये परिवर्तन के लिये हम किसी एक तत्व को उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते अपितु और उसमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास राष्ट्र–राज्य की भावना का उदय, शीतयुद्ध की समाप्ति नयी आर्थिक विश्व–व्यवस्था का उदय, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका निभाने वाले नायकों का परिवर्तन, सूचना क्रांति के व्यापक प्रसार एवं सैन्य क्षेत्र मे अभूतपूर्व वैज्ञानिक तकनीक के प्रयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

परन्तु इन सबके बावजूद भी कुछ विशेष परिस्थतियों में, भौगोलिक सीमाओं के उल्लंघन के बिना और सत्तारूढ़ सरकार को प्रत्यक्षतः युद्ध में पराजित किए बिना, अथवा किसी और तरह से अपदस्थ किए बिना भी किसी राज्य की राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरे में डाला जा सकता है। शीत युद्ध काल में, उपनिवेशवाद के अंत के बाद भी, नवोदित राष्ट्रों के लिए अपनी स्वाधीनता को बचाये, बनाये रखना काफी कठिन रहा था। नव–उपनिवेशवाद की चुनौती आर्थिक साम्राज्यवाद के साथ जुड़ी थी। अफ्रीका, एशिया और लातीन अमेरिका के अनेक देशों में प्राकृतिक संसाधनों और बाजार पर विदेशियों का प्रभुत्व बरकरार था। अनेक राष्ट्र राज्यों में स्वाधीनता संग्राम संपन्न होने के साथ ही जुझारू तेवर समाप्त होने लगे थे। आजादी का सुख भोगने की लालसा प्रबल थी। अधिकांश देशों में जनता इस बात के लिए आतुर थी कि आर्थिक विकास की दर तेज हो और जीवन यापन का स्तर ऊपर उठे। आर्थिक स्वावलम्बन की मजबूत नींव रखने के लिए यह जरूरी था कि तत्काल उपभोग में कटौती की जाए, कुर्बानियां देते रहने के लिए कमर कसी जाए और कुछ वर्षों तक धीरज से काम लिया जाए। शीत युद्ध के वर्षों में दोनों महाशक्तियों ने तथा अन्य बड़ी शक्तियों ने सामरिक कारणों से विदेशी सहायता को अपनी विदेशनीति

का उपयोगी औजार समझा। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि विकासशील देशों में यह भ्रांति फैली कि विदेशी सहायता–पूंजी और टेक्नोलॉजी के आयात से आर्थिक प्रगति का मार्ग सहज और सुलभ हो जायेगा। आगे चलकर यह बात स्पष्ट हुई कि यह एक मृग–मरीचिका ही थी। विदेशी सहायता की असलियत, कमरतोड़, कर्ज से ज्यादा कुछ नहीं थी। विदेशी सहायता के साथ जिन शर्तों के धागे जुड़े रहते थे, वे सहायता ग्रहण करने वालों को कुठपुतलों की तरह नचाते थे। इसके चलते विकासशील देशों की आर्थिक स्वायत्ता–आत्मनिर्भरता में घात लगाई जा सकी। यह बात सिर्फ एकतरफा विदेशी सहायता पर बहुराष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा दी जाने वाली सहायता पर ही नहीं लागू होती है। विश्व बैंक जिस तरह के नुस्खे लागू करने की अनिवार्य शर्त रखता था, उसके बाद सामाजिक क्षेत्र में नीति–निर्धारण की आजादी, सहायता स्वीकार करने वाले देश के लिए नहीं रहती थी। यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि विश्व बैंक के मूल्य तथा अमेरिकी–पश्चिमी मूल्यों में बहुत फर्क कभी नहीं रहा। राष्ट्रीय सुरक्षा के इस आर्थिक पक्ष के बारे में नवोदित एशियाई राष्ट्र बहुत बाद में सचेत हुए।

आर्थिक नव उपनिवेशवाद के दौर में भारत सरकार ने सबसे पहले इसी आत्म निर्भर आर्थिक ढाँचे पर ही हाथ लगाया। 1991 में यह घोषणा की गयी। कि भारत विश्व अर्थव्यवस्था में खुद को समाहित करने जा रहा है। इसके बाद सरकारी महकमों में कामचोरी, घाटे इत्यादि तर्कों के सहारे पूरे आर्थिक ढाँचे को ध्वस्त कर उसे देशी/विदेशी पूँजी के गठजोड़ के हवाले करने के रास्ते तैयार किये जाते रहे।[5]

भारत में आर्थिक उदारीकरण के आरंभ होने के पश्चात् एक नए मध्यवर्ग का जन्म हुआ है। जब भारत आजाद हुआ तो यह मध्यवर्ग कुल जनसंख्या का 5 प्रतिशत था।[6] आज यही मध्यवर्ग भारत की कुल जनसंख्या का 30 प्रतिशत है।[7] यह मध्यवर्ग अपनी संख्या और संस्कृति–दोनों दृष्टियों से खासा महत्व रखता है। ''राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद'' ने यह अनुमान लगाया था कि वर्ष 2007 तक यह उपभोक्ता–वर्ग 910 लाख कुटुंब और 4,500 लाख लोगों तक पहुंच जाएगा। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह वर्ग विशेष महत्वपूर्ण है।[8] इस मध्यवर्ग ने नए मूल्य–प्रतिमानों को जन्म दिया है। इसके पैर परंपरा की धरती से जुड़े हुए हैं, लेकिन ये आधुनिकता की उड़ान से पूर्व, परंपरा को भी नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस छटपटाहट और अकुलाहट से एक अजीबोगरीब संस्कृति पनप रही है, जो न तो विशुद्ध भारतीय है और न ही विशुद्ध पश्चिमी। इस प्रक्रिया को एक टिप्पणीकार ने सांस्कृतियों को घातक संकरण करार दिया है। ऐसे ही मूल्य जीवन के विविध आयामों में देखे जा सकते हैं।

यह मध्यवर्ग सामाजिक सरोकारों से अछूता और घोर स्वार्थी है, जो समाज में एक ऐसे उपभोक्ता–वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया है, जिसकी दिलचस्पी केवल अपने दैनिक सुख तक समिति है। संस्कृति के नाम पर उपभोक्तावाद की संस्कृति ही इनका सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत संस्कृति है।[9] इसके कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। संप्रति उधार के प्रति भारतीय मध्यवर्ग का रवैया पूरी तरह बदला हैं पहले मध्यवर्ग का व्यक्ति बचत पर जोर देता था और फिर बचत के बाद ही खरीददारी करता था। आज वह कार, मकान या कोई भी उपभोक्ता सामान खुशी–खुशी कर्ज लेकर खरीदने को तैयार है। जीवन का उद्देश्य उधार की खुशी ढूंढ़ने तक सीमित और केंद्रित रह गई है। ईएमआई जैसी सुविधाओं ने मकान, कार, कंप्यूटर, टीवी जैसी सभी वस्तुओं को सुलभ करा दिया है, और इस प्रकार मध्यवर्गीय लालसाओं को खुलकर हवा दी है। आज इनकी जो जीवन–शैली है, कुछ समय पूर्व तक केवल संपन्न धनित–वर्ग तक सीमित थी, परंतु भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने 'आज खरीदो–कल अदा करो' के सिद्धांत को लोकप्रिय बना, उपभोक्तावाद को और भी हवा दे दी है। इस प्रकार इस मध्यवर्ग का जीवन का आनंद उपभोक्तावाद की दीवारों में कैद होकर रह गया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बाजार में आज सभी महंगे ब्रांड उपस्थित है। एक तरफ मध्यवर्ग की कुंठा को भड़काकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने उपभोक्तावाद की संस्कृति का प्रचार–प्रसार किया है तो दूसरी ओर, इनका सर्वत्र उपलब्धता के द्वारा।

- आम जनता भयंकर आर्थिक असुरक्षा से ग्रस्त है। विकास के प्रचलित मौजूदा मॉडल ने उनके जीवन को पहले से कहीं ज्यादा तकलीफदेह बना दिया है। दक्षिण में विकसित माने जाने वाले आंध्र प्रदेश का किसान भी आत्महत्या करने को विवश है और उत्तर भारत में समृद्ध माने जाने वाले राज्य पंजाब का कृषक भी।

- राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर बहुत बड़े पैमाने पर जमीनी आंदोलन का दौर चल रहा है। यह प्रतिक्रियावादी उन्माद हिंसक व अहिंसक रूप में अखिल भारतीय स्तर पर देखा जा सकता है–बात नक्सलवादी हिंसा की हो या फिर दक्षिणपंथी राष्ट्रीयता का मसला। विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र, भारत की इस मनोदशा को केवल संक्रमणकारी राजनीति के रूप में परिभाषित कर समस्या से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता, वस्तुतः समस्या कहीं अधिक गंभीर है। सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर हम यह पाते हैं कि इन समस्याओं का सीधा संबंध वर्ष 1991 के आरंभ से जोड़कर देखा जा सकता है, जब तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री नरसिंह राव की अगुवाई में भूमंडलीकरण के तहत आर्थिक सुधारों का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। भूमंडलीकरण का यह प्रचलित और लोकप्रिय नारा है कि राष्ट्रों के मध्य सीमा समाप्त कर प्रत्येक राष्ट्र–राज्य को विश्व–व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बनाया जाएगा, ताकि विश्व–व्यापार से अधिकतम लाभ उठाया जा सके। इस प्रयास में भारत जैसे विकासशील देशों में विश्व–व्यवस्था का शिकंजा कसता जा रहा है। यह सर्वविदित है कि इस विश्व–व्यवस्था का खाका पश्चिमी केंद्रिय चिंतन और नियोजन करने वाले रेड कॉरपोरेशन और तीन ब्रेटनबुड संस्थाओं के दफ्तरों में तैयार किया जाता है। भूमंडलीकरण का मोहजाल यह है कि बुद्धिजीवियों, पत्रकारों और राजनेताओं के अतिरिक्त देश में इस तरह से सोचने वालों की संख्या बढ़ती चली जा रही है कि उदारीकरण और भूमंडलीकरण न केवल दिक्कतों से छुटकारा दिलाना होगा वरन् उसके जरिये उदीयमान सामाजिक वर्गों की मांगो के कारण पैदा हुई राजनीतिक बीमारी का इलाज भी मिल जाएगा। इस राष्ट्रीय गलतफहमी के भंयकर परिणाम निकले हैं जिसे निम्नलिखित रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है–
- राज्य का प्रभामंडल और प्रताप पहले जैसा नहीं रह गया है। जो तबके अपनी खुशहाली के लिए राज्य पर निर्भर थे वे भी इसी तरह सोचने लगे हैं कि अब राज्य में उन्हें लाभ पहुंचाने की क्षमता नहीं रहा।[10] नाना प्रकार की क्षेत्रीय और सांस्कृतिक अस्मिताओं को समेटकर चलने वाले पुराने किस्म के राष्ट्रवाद पर अब उपराष्ट्रीय चेतना हावी हो गई है।[11]
- स्वायत्तता और अलगाव के लिए चलाए जाने वाले किस्म–किस्म के क्षेत्रीय आंदोलनों ने राज्य को टकराव और हिंसा के दौर में फंसा दिया।[12]
- केंद्र व राज्य प्राधिकार का संकट गहराता जा रहा है। इस संकट के समाधान में अक्षम होते जाने के कारण राष्ट्रीय अभिजन राष्ट्र–निर्माण की बुनियादी राजनीतिक जिम्मेदारी और उससे जुड़े आर्थिक विकास की चुनौती से मुंह फेरता जा रहा।[13]
- देश के भीतर उद्योग, श्रम, धर्म, जाति, भाषायी और जातीय अस्मिता जैसे सत्ता के अन्य केंद्रों के संदर्भ में राज्य की विशिष्ट और प्रभावी भूमिका की अवधारणा अब उतनी असरदार नहीं रही। इसी तरह देश के बाहर भू–राजनीतिक और सामरिक सत्ता के केंद्रों से लेकर अंतरर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ–साथ पूंजी और वाणिज्य की बहुराष्ट्रीय संरचनाओं कें संदर्भ में भी राज्य के प्रभाव का क्षय हो गया है। इसी के परिणामस्वरूप स्वायत्तता पर जोर कम हुआ है।[14]
- बहुराष्ट्रीय कपंनियां तरह–तरह के द्विपक्षीय और बहुपक्षीय समझौतें के जरिये जमीन से उठने वाले विद्रोही आंदोलनों के खिलाफ पेशबंदी करती रहती हैं।[15]

यही कारण है कि हाशियाकरण की इस प्रवित्त ने नक्सलवाद जैसे आंदोलनों को और मजबूती प्रदान की है। नक्सलवाद के अध्येता मनोरंजन मोहंती का मानना है कि वर्तमान दौर में नक्सलवाद को पनपने में भूमंडलीकरण ने तात्कालिक कारण का कार्य किया है।[16]

बेला भाटिया ने बिहार के नक्सलवाद के अपने अध्ययन में यह रेखांकित किया है कि नक्सलवादी साफ तौर से गरीबों और दलितों के नुमाइंदे समझे जाते हैं। गांव के स्तर पर दलित जनता नक्सलवादी आंदोलन के मुख्य जनाधर का निर्माण करती है।[17] यही नहीं, बिहार में दलितों को लगता है कि आजादी के बाद पहली बार मुसीबत में उनका साथ देने के लिए नक्सलियों के रूप में कोई मौजूद है।[18] उड़ीसा में भी नक्सलीवादी कारोपुट, रायगड़ा और मल्कागिरी जिलों के अतिरिक्त नुआपाड़ा, कालाहांडी, बोगिर, फुलबनी में सक्रिय हैं, जहाँ 80 प्रतिशत

से कहीं अधिक लोग गरीबी रेखा से नीचे हैं।[19] आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में बारंगल, खमम, श्रीकाबुम में नक्सलवादी सक्रिय हैं जो अपेक्षाकृत पिछड़ा इलाका माना जाता है।[20]

भारत में नक्सलवाद मूलतः उन राज्यों के पिछड़े इलाकों में पनप सका है। जो विकास की प्रक्रिया में पीछे छूट गए हैं। नक्सलवाद से जूझ रहा इलाका देश का सर्वाधिक गरीब इलाका भी है। नक्सलवाद और आर्थिक पिछड़ापन का यह संबंध महज संयोग नहीं है। नक्सलवाद का संबंध भूमंडलीकरण की नीतियों की विफलता से जोड़ा जाना उचित एवं तार्किक लगता है, क्योंकि नक्सलवाद सामान्यतया देश के गरीब इलाकों में ही सफल हो सका है। हमारा यह निष्कर्ष भारत के विभिन्न राज्यों के लिए भी पूर्णतया सही लागू होता है।

भूमंडलीकरण का श्वेत पक्ष यह है कि इसने एक नई दुनिया को जन्म दिया है, जो सूचना–प्रवाह व तकनीक से समूचे विश्व को एक सूत्र में आबद्ध करती हैं। विश्व–अर्थव्यवस्था के समूचे रूपांतरण के साथ–साथ व्यापार व निवेश की राष्ट्रीय बाधाएं कम हुई है, संचार माध्यमों के विकास से वित्तीय बाजार का विस्तार हुआ है, बहुराष्ट्रीय कपंनियों के लाभ का स्वार्णिम दौर चल रहा है, क्षेत्रीय आधार पर आर्थिक एकीकरण का नया युग आरंभ हुआ है और इस प्रकार एक ऐसे एकीकृत विश्व–बाजार का जन्म हुआ है जिसके परिणामस्वरूप आज मानव के जीवन–स्तर में अप्रत्याशित सुधार दिखाई देता है।

कहा जाता है कि एक अजनबी उस मित्र की तरह होता है, जिससे हम पहले नहीं मिले होते हैं। अनेक स्तरों और क्षेत्रों के भारतीय पहली बार मिले रहे हैं, हमें 'दूसरे' को सिर्फ दूसरे की तरह देखना है, जो हमारे जैसे ही कोई एक होता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्', जिसका अर्थ है– 'संसार मेरा परिवार है, प्राचीन भारतीय विद्वत्ता की एक सूक्ति और उपदेश है। इसका अभिप्राय है कि एक बृहत् परिवार की परिभाषा में सभी समा जाते हैं और उसके अनुसार, हमारे विस्तारित परिवार के परे कोई 'दूसरा' नहीं हैं। वैश्वीकरण को भी तब एक विस्तारित परिवार का ही हिस्सा माना–समझा जा सकता है, न कि कोई विजातीय या विदेशी।

भारत जैसे–जैसे आगे कदम बढ़ा रहा है, उसके सामने न केवल चुनौतियाँ आ रही हैं, बल्कि उसे अवसर भी प्राप्त हो रहे हैं। बहुत से जटिल प्रश्नों और विरोधों का कोई एक सीधा–सरल उत्तर नहीं है। उनको बातचीत से सुलझाना जाना चाहिए। हम जब एक और चौराहे के निकट पहुंचते हैं, तब यह विचार करना बुद्धिमानी होगी कि क्या वे रास्ते, जिन्हें अधिक नहीं नापा गया हैं, सुख–शांति की ओर एक ऐसा कदम साबित हो सकते हैं, जो समाधान ला सकें ?

अंततोगत्वा सुरक्षा वहीं होती हैं, जहाँ सामान्य सुरक्षा होती हैं, फिर चाहे वह आतंरिक हो, राष्ट्रों के अंदर और लोगों के बीच में हो या अंतर्राष्ट्रीय तौर पर हो। दिन के बीत जाने पर तंगदिल समाज या सामूहिक पहचानों के विरूद्ध एक सामान्य नागरिकता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए, जिसे बृहत्तर समग्रता के अंदर सन्निविष्ट किया जाना जरूरी है और जिसे भली भाँति सुरक्षित रखा जा सकता है।[21]

सन्दर्भ

1– पंत, पुष्पेश, – 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, टाटा मैक्ग्रा हिल, नई दिल्ली, 2008, पृ0–40।

2– लिपमैन, वाल्टर – यू0एस0फारेन पालिसीः शील्ड ऑफ रिपब्लिक (बोस्टन, 1943) पृ0–51।

3– बर्कोविट्स, एम0 एण्ड बुके, पी0जी0, – नेशनल सिक्योरिटी इन डी0एल0 सिल्क (सम्पादित), इनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल सांइसेज, लंदन, 1968, वाल्यूम 2, पृ0–41।

4– डिस्कार्ड, आ0 वोल्फर, एण्ड कोलैबोरशन – एसे आन इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, वाल्टीमोर द जॉन हापकिन्स प्रेस, 1962, पृ0–150।

5– रक्षार्थ 15 अगस्त 2002, पृ0–97।
6– दास, गुरूचरण – अद्भुत भारत, फुल सर्किल, नई दिल्ली, 2002, पृ0–302।
7– देशपांडे, सतीश – कंटेपरेरी इंडिया, ए सोशियोलॉजिकल व्यू, पेंगुइन बुक्स नई दिल्ली, पृ0–151।
8– दास, गुरूचरण – अद्भुत भारत, फुल सर्किल, नई दिल्ली, पृ0–308।
9– अययर, शंकर – उधार ने उबारा, इंडिया टुडे, 17 नवंम्बर 2003, पृ0–44।
10– कोठारी, रजनी – जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र–राज्य, दुबे, अभय कुमार (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृ0–76।
11– सेठ, धीरूभाई– बाजारोन्मुखी या सहभोगी लोकतंत्र, अभय कुमार दुबे (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ0–108।
12– कोठारी, रजनी, – जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र–राज्य, अभय कुमार दुबे (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृ0–76।
13– सेठ, धीरूभाई – बाजारोन्मुखी या सहभोगी लोकतंत्र, अभय कुमार दुबे (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ0–109।
14– कोठारी, रजनी, – जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र–राज्य, अभय कुमार दुबे (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृ0–77।
15– सेठ, धीरूभाई – बाजारोन्मुखी या सहभोगी लोकतंत्र, अभय कुमार दुबे (सं), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ0–109।
16– मोहंती, मनोरंजन, – चैलेन्ज ऑफ रिवोल्युशनरी वायरलेंस, इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, जुलाई 22, 2006, पृ0–3163।
17– भाटिया, बेला – नक्सलवादी बनते दलित, अभय कुमार दुबे (सं), आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ0–317।
18– वहीं, पृ0–317।
19– किशोर, अमरेंद्र, – सलवा जुडूम से उलझी नक्सलवाद की गुत्थी, हिंदुस्तान, 4 नवंबर 2006, पृ0–10।
20– बंधु, विनोद, – सरकार सोती रही, शहर धधकता रहा आउटलुक, 28 नवंबर 2005, पृ0–19।
21– वर्गीज, बी0 जी0 – सुरक्षा और सामाजिक आक्रोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ0–13–14।